॥ ओ३म् ॥

स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाशः

सर्वतन्त्र सिद्धान्त अर्थात् साम्राज्य सार्वजनिक धर्म जिस को सदा से सब मानते आये, मानते हैं और मानेंगे भी इसी लिये उस को सनातन नित्यधर्म कहते हैं कि जिस का विरोधी कोई भी न हो सके। यदि अविद्यायुक्त जन अथवा किसी मत वाले के भ्रमाये हुए जन जिस को अन्यथा जानें वा मानें उस का स्वीकार कोई भी बुद्धिमान् नहीं करते किन्तु जिस को आप्त अर्थात् सत्यमानी, सत्यवादी, सत्यकारी, परोपकारक पक्षपातरहित विद्वान् मानते हैं वही सब को मन्तव्य और जिस को नहीं मानते वह अमन्तव्य होने से प्रमाण के योग्य नहीं होता। अब जो वेदादि सत्यशास्त्र और ब्रह्मा से लेकर जैमिनिमुनि पर्य्यन्तों के माने हुए ईश्वरादि पदार्थ हैं जिन को कि मैं भी मानता हूं सब सज्जन महाशयों के सामने प्रकाशित करता हूं।

मैं अपना मन्तव्य उसी को जानता हूं कि जो तीन काल में सब को एक सा मानने योग्य है। मेरा कोई नवीन कल्पना वा मतमतान्तर चलाने का लेशमात्र भी अभिप्राय नहीं है किन्तु जो सत्य है उसको मानना मनवाना और जो असत्य है उसको छोड़ना और छुड़वाना मुझ को अभीष्ट है। यदि मैं पक्षपात करता तो आर्य्यावर्त्त में प्रचरित मतों में से किसी एक मत का आग्रही होता किन्तु जो-जो आर्य्यावर्त्त वा अन्य देशों में अधर्मयुक्त चाल चलन है उस का स्वीकार और जो धर्मयुक्त बातें हैं उन का त्याग नहीं करता न करना चाहता हूं क्योंकि ऐसा करना मनुष्यधर्म से बहिः है।

मनुष्य उसी को कहना कि मननशील होकर स्वात्मवत् अन्यों के सुख दुःख और हानि लाभ को समझे। अन्यायकारी बलवान् से भी न डरे और धर्मात्मा निर्बल से भी डरता रहे। इतना ही नहीं किन्तु अपने सर्व सामर्थ्य से धर्मात्माओं—कि चाहे वे महा अनाथ निबल और गुणरहित क्यों न हों—उन की रक्षा, उन्नति, प्रियाचरण और (अधर्मी) चाहे चक्रवर्ती सनाथ महाबलवान् और गुणवान् भी हो तथापि उस का नाश, अवनति और अप्रियाचरण सदा किया करे अर्थात् जहां तक हो सके वहां तक अन्यायकारियों के बल की हानि और न्यायकारियों के बल की उन्नति सर्वथा किया करे। इस काम में चाहे उस को कितना ही दारुण दुःख प्राप्त हो, चाहे प्राण भी भले ही जावें परन्तु इस मनुष्यपनरूप धर्म से पृथक् कभी न होवे। इस में श्रीमान् महाराजा भर्तृहरिजी आदि ने श्लोक कहे हैं उन का लिखना उपयुक्त समझ कर लिखता हूं:—

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम् ।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा
न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीरा ।। १ ।।

भर्तृहरिः [नीतिशतक, श्लो० ८५] ।।

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्
धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः ।
धर्मो नित्यः सुखदुःखे त्वनित्ये
जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः ।। २ ।।

महाभारते [उद्योगपर्व-प्रजागरपर्व-अ० ४० । श्लो० ११ । १२] ।।

एक एव सुहृद्धर्मो निधनेऽप्यनुयाति यः ।
शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यद्धि गच्छति ।। ३ ।। मनुः [अ० ८ । श्लो० १७] ।।

सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः ।
येनाऽऽक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत्सत्यस्य परमं विधानम् ।।४।।

[मुण्डकोप० मु० ३ । खं० १ । मं० ६] ।।

न हि सत्यात्परो धर्मो नानृतात्पातकं परम् ।
नहि सत्यात्परं ज्ञानं तस्मात्सत्यं समाचरेत् ।। ५ ।। उपनिषदि ।।

[तुलना कीजिये—मनु० अ० ८ । श्लो० ८२ के पश्चात् कोष्ठस्थ श्लोक संख्या २ से] ।।

इन्हीं महाशयों के श्लोकों के अभिप्राय के अनुकूल सबको निश्चय रखना योग्य है । अब मैं जिन-जिन पदार्थों को जैसा-जैसा मानता हूं उन-उन का वर्णन संक्षेप से नहीं करता हूं जिनका विशेष व्याख्यान इस ग्रन्थ में अपने-अपने प्रकरण में कर दिया है । इन में सेः—

१—प्रथम 'ईश्वर' कि जिसके ब्रह्म परमात्मादि नाम हैं, जो सच्चिदानन्दादि लक्षणयुक्त है जिसके गुण, कर्म, स्वभाव पवित्र हैं जो सर्वज्ञ, निराकार, सर्वव्यापक, अजन्मा, अनन्त, सर्वशक्तिमान्, दयालु, न्यायकारी, सब सृष्टि का कर्त्ता, धर्त्ता, हर्त्ता, सब जीवों को कर्मानुसार सत्य न्याय से फलदाता आदि लक्षणयुक्त है उसी को परमेश्वर मानता हूं ।

२—चारों 'वेदों' (विद्या धर्मयुक्त ईश्वरप्रणीत संहिता मन्त्रभाग) को निर्भ्रान्त स्वतःप्रमाण मानता हूं, वे स्वयं प्रमाणरूप हैं, कि जिन के प्रमाण होने में किसी अन्य ग्रन्थ की अपेक्षा नहीं । जैसे सूर्य्य वा प्रदीप अपने स्वरूप के स्वतःप्रकाशक और

पृथिव्यादि के भी प्रकाशक होते हैं वैसे चारों वेद हैं । और चारों वेदों के ब्राह्मण, छः अङ्ग, छः उपाङ्ग, चार उपवेद और ११२७ (ग्यारह सौ सत्ताईस) वेदों की शाखा जो कि वेदों के व्याख्यानरूप ब्रह्मादि महर्षियों के बनाये ग्रन्थ हैं उन को परतःप्रमाण अर्थात् वेदों के अनुकूल होने से प्रमाण और जो इन में वेदविरुद्ध वचन हैं उन का अप्रमाण करता हूं ।

३—जो पक्षपातरहित, न्यायाचरण सत्यभाषणादियुक्त ईश्वराज्ञा वेदों से अविरुद्ध है उस को **'धर्म'** और जो पक्षपातसहित अन्यायाचरण मिथ्याभाषणादि ईश्वराज्ञाभङ्ग वेदविरुद्ध है उस को **'अधर्म'** मानता हूं ।

४—जो इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख और ज्ञानादि गुणयुक्त अल्पज्ञ नित्य है उसी को **'जीव'** मानता हूं ।

५—जीव और ईश्वर स्वरूप और वैधर्म्य से भिन्न और व्याप्य व्यापक और साधर्म्य से अभिन्न हैं अर्थात् जैसे आकाश से मूर्तिमान् द्रव्य कभी भिन्न न था, न है, न होगा और न कभी एक था, न है, न होगा इसी प्रकार परमेश्वर और जीव को व्याप्य व्यापक, उपास्य उपासक और पिता पुत्र आदि सम्बन्धयुक्त मानता हूं ।

६—**'अनादि पदार्थ'** तीन हैं । एक ईश्वर, द्वितीय जीव, तीसरा प्रकृति अर्थात् जगत् का कारण, इन्हीं को नित्य भी कहते हैं । जो नित्य पदार्थ हैं उन के गुण, कर्म स्वभाव भी नित्य हैं ।

७—**'प्रवाह से अनादि** जो संयोग से द्रव्य, गुण, कर्म उत्पन्न होते हैं वे वियोग के पश्चात् नहीं रहते परन्तु जिस से प्रथम संयोग होता है वह सामर्थ्य उन में अनादि है और उस से पुनरपि संयोग होगा तथा वियोग भी, इन तीनों को प्रवाह से अनादि मानता हूं ।

८—**'सृष्टि'** उस को कहते हैं जो पृथक् द्रव्यों का ज्ञान युक्तिपूर्वक मेल हो कर नानारूप बनना ।

९—**'सृष्टि का प्रयोजन'** यही है कि जिस में ईश्वर के सृष्टिनिमित्त गुण, कर्म, स्वभाव का साफल्य होना । जैसे किसी ने किसी से पूछा कि नेत्र किस लिये हैं ? उस ने कहा देखने के लिये । वैसे ही सृष्टि करने के ईश्वर के सामर्थ्य की सफलता सृष्टि करने में है और जीवों के कर्मों का यथावत् भोग कराना आदि भी ।

१०—**'सृष्टि सकर्तृक'** है । इस का कर्त्ता पूर्वोक्त ईश्वर है । क्योंकि सृष्टि की रचना देखने और जड़ पदार्थ में अपने आप यथायोग्य बीजादि स्वरूप बनने का सामर्थ्य न होने से सृष्टि का **'कर्त्ता'** अवश्य है ।

११—'**बन्ध**' सनिमित्तक अर्थात् अविद्या निमित्त से है। जो-जो पाप कर्म ईश्वरभिन्नोपासन अज्ञानादि सब दुःख फल करने वाले हैं इसी लिये यह '**बन्ध**' है कि जिस की इच्छा नहीं और भोगना पड़ता है।

१२—'**मुक्ति**' अर्थात् सब दुःखों से छूटकर बन्धरहित सर्वव्यापक ईश्वर और उस की सृष्टि में स्वेच्छा से विचरना, नियत समय पर्यन्त मुक्ति के आनन्द को भोग के पुनः संसार में आना।

१३—'**मुक्ति के साधन**' ईश्वरोपासना अर्थात् योगाभ्यास, धर्मानुष्ठान, ब्रह्मचर्य्य से विद्याप्राप्ति, आप्त विद्वानों का संग, सत्यविद्या, सुविचार और पुरुषार्थ आदि है।

१४—'**अर्थ**' वह है कि जो धर्म ही से प्राप्त किया जाय और जो अधर्म से सिद्ध होता है उस को '**अनर्थ**' कहते हैं।

१५—'**काम**' वह है कि जो धर्म और अर्थ से प्राप्त किया जाय।

१६—'**वर्णाश्रम**' गुण कर्मों की योग्यता से मानता हूं।

१७—'**राजा**' उसी को कहते हैं जो शुभ गुण, कर्म, स्वभाव से प्रकाशमान, पक्षपातरहित न्यायधर्म का सेवी, प्रजाओं में पितृवत् वर्त्ते और उन को पुत्रवत् मान के उन की उन्नति और सुख बढ़ाने में सदा यत्न किया करे।

१८—'**प्रजा**' उस को कहते हैं कि जो पवित्र गुण, कर्म, स्वभाव को धारण कर के पक्षपातरहित न्यायधर्म के सेवन से राजा और प्रजा की उन्नति चाहती हुई राजविद्रोहरहित राजा के साथ पुत्रवत् वर्त्ते।

१९—जो सदा विचार कर असत्य को छोड़ सत्य का ग्रहण करे, अन्यायकारियों को हटावे और न्यायकारियों को बढ़ावे, अपने आत्मा के समान सब का सुख चाहे सो '**न्यायकारी**' है, उस को मैं भी ठीक मानता हूं।

२०—'**देव**' विद्वानों को और अविद्वानों को '**असुर**' पापियों को '**राक्षस**' अनाचारियों को '**पिशाच**' मानता हूं।

२१—उन्हीं विद्वानों, माता, पिता, आचार्य्य, अतिथि, न्यायकारी राजा और धर्मात्मा जन, पतिव्रता स्त्री और स्त्रीव्रत पति का सत्कार करना '**देवपूजा**' कहाती है, इस से विपरीत अदेवपूजा, इन की मूर्त्तियों को पूज्य और इतर पाषाणादि जड़मूर्त्तियों को सर्वथा अपूज्य समझता हूं।

२२—'शिक्षा' जिस से विद्या, सभ्यता, धर्मात्मा, जितेन्द्रियतादि की बढ़ती होवे और अविद्यादि दोष छूटें उस को शिक्षा कहते हैं।

२३—'पुराण' जो ब्रह्मादि के बनाये ऐतरेयादि ब्राह्मण पुस्तक है उन्हीं को पुराण, इतिहास, कल्प, गाथा और नाराशंसी नाम से मानता हूं, अन्य भागवतादि को नहीं।

२४—'तीर्थ' जिससे दुःखसागर से पार उतरें कि जो सत्यभाषण, विद्या, सत्संग, यमादि, योगाभ्यास, पुरुषार्थ विद्यादानादि शुभ कर्म है उसी को तीर्थ समझता हूं, इतर जलस्थलादि को नहीं।

२५—'पुरुषार्थ प्रारब्ध से बड़ा' इस लिये है कि जिस से संचित प्रारब्ध बनते जिस के सुधरने से सब सुधरते और जिस के बिगड़ने से सब बिगड़ते हैं इसी से प्रारब्ध की अपेक्षा पुरुषार्थ बड़ा है।

२६—'मनुष्य' को सब से यथायोग्य स्वात्मवत् सुख, दुःख, हानि, लाभ में वर्त्तना श्रेष्ठ, अन्यथा वर्त्तना बुरा समझता हूं।

२७—'संस्कार' उस को कहते हैं कि जिस से शरीर, मन और आत्मा उत्तम होवे। वह निषेकादि श्मशानान्त सोलह प्रकार का है। इस को कर्त्तव्य समझता हूं और दाह के पश्चात् मृतक के लिये कुछ भी न करना चाहिये।

२८—'यज्ञ' उस को कहते हैं कि जिस में विद्वानों का सत्कार यथायोग्य शिल्प अर्थात् रसायन जो कि पदार्थविद्या उस से उपयोग और विद्यादि शुभगुणों का दान अग्निहोत्रादि जिन से वायु, वृष्टि, जल, ओषधी की पवित्रता कर के सब जीवों को सुख पहुंचाना है, उस को उत्तम समझता हूं।

२९—जैसे 'आर्य्य' श्रेष्ठ और 'दस्यु' दुष्ट मनुष्यों को कहते हैं वैसे ही मैं भी मानता हूं।

३०—'आर्य्यावर्त्त' देश इस भूमि का नाम इस लिये है कि इस में आदि सृष्टि से आर्य्य लोग निवास करते हैं परन्तु इस की अवधि उत्तर में हिमालय, दक्षिण में विन्ध्याचल, पश्चिम में अटक और पूर्व में ब्रह्मपुत्रा नदी है। इन चारों के बीच में जितना देश है उस को 'आर्य्यावर्त्त' कहते और जो इस में सदा रहते हैं उन को भी आर्य कहते हैं।

३१—जो साङ्गोपाङ्ग वेदविद्याओं का अध्यापक सत्याचार का ग्रहण और मिथ्याचार का त्याग करावे वह 'आचार्य' कहाता है।

३२—**'शिष्य'** उस को कहते हैं कि जो सत्य शिक्षा और विद्या को ग्रहण करने योग्य धर्मात्मा, विद्याग्रहण की इच्छा और आचार्य का प्रिय करने वाला है ।

३३—**'गुरु'** माता पिता और जो सत्य का ग्रहण करावे और असत्य को छुड़ावे वह भी **'गुरु'** कहाता है ।

३४—**'पुरोहित'** जो यजमान का हितकारी सत्योपदेष्टा होवे ।

३५—**'उपाध्याय'** जो वेदों का एकदेश वा अङ्गों को पढ़ाता हो ।

३६—**'शिष्टाचार'** जो धर्माचरणपूर्वक ब्रह्मचर्य से विद्याग्रहण कर प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सत्यासत्य का निर्णय करके सत्य का ग्रहण असत्य का परित्याग करना है यही शिष्टाचार और जो इस को करता है वह **'शिष्ट'** कहता है ।

३७—प्रत्यक्षादि आठ **'प्रमाणों'** को भी मानता हूं ।

३८—**'आप्त'** जो यथार्थवक्ता, धर्मात्मा, सब के सुख के लिये प्रयत्न करता है उसी को **'आप्त'** कहता हूं ।

३९—**'परीक्षा'** पांच प्रकार की है । इस में से प्रथम जो ईश्वर उस के गुण कर्म स्वभाव और वेदविद्या, दूसरी प्रत्यक्षादि आठ प्रमाण, तीसरी सृष्टिक्रम, चौथी आप्तों का व्यवहार और पांचवी अपने आत्मा को पवित्रता विद्या, इन पांच परीक्षाओं से सत्याऽसत्य का निर्णय कर के सत्य का ग्रहण असत्य का परित्याग करना चाहिये ।

४०—**'परोपकार'** जिस से सब मनुष्यों के दुराचार दुःख छूटें, श्रेष्ठाचार और सख बढ़े उस के करने को परोपकार कहता हूं ।

४१—**'स्वतन्त्र' 'परतन्त्र'** जीव अपने कामों में स्वतन्त्र और कर्मफल भोगने में ईश्वर की व्यवस्था से परतन्त्र, वैसे ही ईश्वर अपने सत्याचार आदि काम करने में स्वतन्त्र है ।

४२—**'स्वर्ग'** नाम सुख विशेष भोग और उस की सामग्री की प्राप्ति का है ।

४३—**'नरक'** जो दुःख विशेष भोग और उस की सामग्री को प्राप्त होना है ।

४४—**'जन्म'** जो शरीर धारण कर प्रकट होना सो पूर्व, पर और मध्य भेद से तीनों प्रकार का मानता हूं ।

४५—शरीर के संयोग का नाम 'जन्म' और वियोग मात्र को 'मृत्यु' कहते हैं।

४६—'विवाह' जो नियमपूर्वक प्रसिद्धि से अपनी इच्छा कर के पाणिग्रहण करना वह 'विवाह' कहाता है।

४७—'नियोग' विवाह के पश्चात् पति के मर जाने आदि वियोग में अथवा नपुंसकत्वादि स्थिर रोगों में स्त्री वा पुरुष आपत्काल में स्ववर्ण वा अपने से उत्तम वर्णस्थ स्त्री वा पुरुष के साथ सन्तानोत्पत्ति करना।

४८—'स्तुति' गुणकीर्त्तन श्रवण और ज्ञान होना, इस का फल प्रीति आदि होते हैं।

४९—'प्रार्थना' अपने सामर्थ्य के उपरान्त ईश्वर के सम्बन्ध से जो विज्ञान आदि प्राप्त होते हैं उन के लिये ईश्वर से याचना करना और इस का फल निरभिमान आदि होता है।

५०—'उपासना' जैसे ईश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव पवित्र हैं वैसे अपने करना, ईश्वर को सर्वव्यापक अपने को व्याप्य जान के ईश्वर के समीप हम और हमारे समीप ईश्वर है ऐसा निश्चय योगाभ्यास से साक्षात् करना उपासना कहाती है, इस का फल ज्ञान की उन्नति आदि है।

५१—'सगुणनिर्गुणस्तुतिप्रार्थनोपासना' जो-जो गुण परमेश्वर में हैं उन से युक्त और जो-जो गुण नहीं हैं उन से पृथक् मान कर प्रशंसा करना सगुणनिर्गुण स्तुति, शुभ गुणों के ग्रहण की ईश्वर से इच्छा और दोष छुड़ाने के लिये परमात्मा का सहाय चाहना सगुणनिर्गुणप्रार्थना और सब गुणों से सहित सब दोषों से रहित परमेश्वर को मान कर अपने आत्मा को उस के और उस की आज्ञा के अर्पण कर देना सगुणनिर्गुणोपासना कहाती है।

ये संक्षेप में स्वसिद्धान्त दिखला दिये हैं। इन की विशेष व्याख्या इसी, 'सत्यार्थप्रकाश' के प्रकरण-प्रकरण में है तथा ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका आदि ग्रन्थों में भी लिखी है अर्थात् जो-जो बात सब के सामने माननीय है उस को मानता अर्थात् जैसे सत्य बोलना सब के सामने अच्छा और मिथ्या बोलना बुरा है ऐसे सिद्धान्तों को स्वीकार करता हूं और जो मतमतान्तर के परस्पर विरुद्ध झगड़े हैं उन को मैं प्रसन्न नहीं करता क्योंकि इन्हीं मत वालों ने अपने मतों का प्रचार कर मनुष्यों को फसा के परस्पर शत्रु बना दिये हैं। इस बात को काट सर्व सत्य का प्रचार कर सब को ऐक्यमत में करा द्वेष छुड़ा परस्पर में दृढ़ प्रीतियुक्त करा के सब से सब को सुख लाभ पहुंचाने के लिये मेरा प्रयत्न और अभिप्राय है सर्वशक्तिमान परमात्मा की कृपा सहाय और

आप्तजनों की सहानुभूति से 'यह सिद्धान्त सर्वत्र भूगोल में शीघ्र प्रवृत हो जावें' जिससे सब लोग सहज से धर्म्मार्थ काम मोक्ष की सिद्धि कर के सदा उन्नत और आनन्दित होते रहें, यही मेरा मुख्य प्रयोजन है।

अलमतिविस्तरेण बुद्धिमद्वर्य्येषु ।

ओ३म् । शन्नो॑ मि॒त्रः शं वरु॑णः । शन्नो॑ भवत्वर्य्य॒मा । शन्न॒ इन्द्रो॒ बृह॒स्पतिः॑ । शन्नो॒ विष्णु॑रुरुक्र॒मः ॥ नमो॒ ब्रह्म॑णे । नम॑स्ते वायो । त्वमे॒व प्र॒त्यक्षं॒ ब्रह्मा॑सि । त्वामे॒व प्र॒त्यक्षं॒ ब्रह्मा॑वादिषम् । ऋ॒तम॑वादिषम् । स॒त्यम॑वादिषम् । तन्मामा॑वीत् । तद्व॒क्तार॑मावीत् । आवी॒न्माम् । आवी॑द्व॒क्तार॑म् । ओ३म् शान्ति॒ः शान्ति॒ः शान्ति॒ः ॥

[तै० आ० प्रपा० ७ । अनु० १२] ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य्याणां परमविदुषां श्रीविरजानन्दसरस्वतीस्वामिनां शिष्येण श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिना विरचितः स्वमन्तव्यामन्तव्य-सिद्धान्तसमन्वितः सुप्रमाणयुक्तः सुभाषाविभूषितः सत्यार्थप्रकाशोऽयं ग्रन्थः सम्पूर्तिमगमत् ॥